संख
...त
...हिए
...गा।

पुस्तकालय

गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

संख्या .... आगत संख्या..............

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि
त 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी
हिए अन्यथा 50 पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड
गा।

-धर्म... ग्रन्थमाला। षष्ठ गुच्छक।

वेद और आर्य्य-समाज

रचयिता

मुन्शीराम जिज्ञासु।

दयानन्दाब्द ३४

संवत् १९७३, विक्रमी

सन १९१६, ई०

प्रथमवार १००० प्रति

मूल्य =) ... ही

गुरुकुल यन्त्रालय कांगड़ी में नन्दलाल द्वारा मुद्रित ...

...ाख्यान देते
...व ... प्रा-
...था में वेदों
... विषय पर,
...र्व साधारण

गुरुकुल विश्वविद्यालय
२६ कार्त्तिक, १९७३
(१० नवम्बर, १९१६)

मुन्शीराम जिज्ञासु

ओ३म्

वेद और आर्य्यसमाज

प्रस्तावना

वेद और आर्य्यसमाज का आधाराधेय सम्बन्ध है। आर्य्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द थे, इस संस्था के निर्माता आचार्य्य वही थे और इस लिये यदि हमें यह जानना हो कि आर्य्यसमाज की आधार-शिला क्या है तो उन्हीं से पूछना चाहिये। उनके मुख्य ग्रन्थ, सत्यार्थप्रकाश, के सातवें सम्मुल्लास के अन्त में वेद विषय पर विचार करते हुए और सर्वमान्य पथदर्शक का वर्णन करते हुए, इस प्रकार लिखा है:—

"वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण, निरुक्त और छन्दादि ग्रन्थ ऋषि मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिये किए हैं। जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे तो कोई कुछ भी न बना सके, इस लिये वेद परमेश्वरोक्त हैं, इन्हीं के अनुसार **सब लोगों को** चलना चाहिए। और जो कोई किसी से पूछे तुम्हारा क्या मत है तो यही उत्तर देना कि **हमारा मत वेद** अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है हम उसको मानते हैं।" आचार्य्य ने वेद को ही जनता का माननीय मत क्यों बतलाया? क्या वह भी अन्यों की तरह मतवादी थे?

ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में ही वह लिखते हैं—"जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है·······इसी लिये विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित करदें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग कर के सदा आनन्द में रहें" फिर लिखा है—"यद्यपि मैं आर्य्यवर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूं तथापि जैसे इस देश के मत मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर याथातथ्य प्रकाश करता हूं वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी वर्त्तता हूं························ मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं।"

सत्य की ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करने वाला महानुभाव कभी भी मताग्रही नहीं हो सकता। इस लिए कि वेद हमारे पूर्वजों के समय से धर्म पुस्तक माने जाते रहे हैं, दयानन्द उस पर विमोहित न था। उठते, बैठते, सोते, जागते उसे इस लिये वेदों का स्मरण न होता था कि वे भारतवर्ष में चिरकाल से स्वर सहित गाये जाते थे। ऋषि दयानन्द की वेदों पर श्रद्धा

का प्रेरक कारण और ही था। ग्यारहवें समुल्लास की भूमिका में वह लिखते हैं—"यह बात सिद्ध है कि पांच सहस्र वर्षों के पूर्व वेद मत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था क्योंकि **वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं**......................" फिर सप्तम समुल्लास में लिखा है—"जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित् शुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुण वाला है वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वर कृत, अन्य नहीं; और जिसमें सृष्टि क्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हों वह ईश्वरोक्त।" यहां ऋषिदयानन्द ने **पुस्तक** शब्द का प्रयोग संसार में प्रसिद्ध शैली के अनुसार कर दिया है वास्तव में वह वेद को क्या मानते हैं इस प्रश्नोत्तर से विदित होता है—"(प्रश्न) क्या यह पुस्तक भी नित्य है? (उत्तर) नहीं, क्योंकि पुस्तक तो पत्रे और स्याही का बना है, वह नित्य कैसे हो सकता है! किन्तु जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध हैं वे नित्य है।"

ग्यारहवें समुल्लास की भूमिका में ऋषि दयानन्द फिर लिखते हैं—"वेदों की अप्रवृत्ति होने के कारण महाभारत युद्ध हुआ। इनकी अप्रवृति से, अविद्यान्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से, मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया वैसा मत चलाया। उन सब मतों में चार मत अर्थात् जो वेद विरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी सब मतों के मूल

हैं, वे क्रम से एक के पीछे दूसरा, तीसरा, चौथा चला है……" जब तक वेद रूपी सूर्य्य का उदय रहा और उसका पूरा प्रकाश पड़ता रहा तब तक किसी भी अन्य प्रकाश की आवश्यकता न थी, परन्तु महाभारत युद्ध के उठाए हुए बादलों की ओट में जब वैदिक सूर्य्य आगया उसी समय मनुष्यों को अपने लिए परिमित प्रकाशों की आवश्यकता हुई । जिस प्रकार रात्री में अपनी योग्यता तथा शक्त्यानुसार मनुष्य दिया, लैम्प, गैस और विद्युत के प्रकाश से काम लेते हैं उसी प्रकार इस अन्धकार के समय में मनुष्य समाज ने अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार मतों तथा सम्प्रदायों की बुनियाद डाली ।

वेद के इस उच्च स्थान का समर्थन केवल ऋषि दयानन्द ही नहीं करते। भारतीय होने के कारण सन्देह हो सकता है कि अपने पूर्वजों की सम्मति समझ कर ही दयानन्द ने वेद को संसार में फैले हुए ज्ञान का श्रोत माना हो, परन्तु उन से पहले भी विदेशी निर्पक्ष विद्वान् यही साक्षी देते रहे हैं। उदाहरण मात्र के लिये यहां फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक Louis Jacolliot (लुई जेकालियट) की पुस्तक Bible in India में से कुछ उद्धरण दिये जाते हैं जिन से सिद्ध होगा कि ऋषि दयानन्द का विश्वास निराधार नहीं हैं । पृ० ५० पर जेकालियट ने लिखा है—

"In point of authenticity, the Velas have incontestible precedence over the most ancient records,

These holy books which, according to the Brahmans, contain the revealed word of God, were honoured in India long before Persia, Asia minor, Egypt and Europe, were colonized or inhabited."

प्रमाणता की दृष्टि से बहुत ही पुराने लेख पत्रों पर भी वेदों का प्राचीनत्व निर्विवाद है। यह पवित्र पुस्तकें, जो ब्राह्मणों के मतानुसार परमात्मा की विकासित वाणी हैं, भारतवर्ष में उस समय से बहुत पहले सम्मानित थीं जब कि अभी फ़ारस, लघु एशिया, मिश्रदेश तथा युरप में न अधिनिवेश हुआ और न वे बसाए गए थे।

इसी विषय पर प्रसिद्ध संस्कृतज्ञों के अगुआ 'सर विलयम जोन्स' लिखते हैं—

"We cannot refuse to the Vedas the honour of an antiquity the most distant."

वेदों को ही अति प्राचीन होने का यश प्राप्त है इससे इन्कार नहीं हो सकता। इसी लिए महाशय जैकालियट लिखते हैं:—

" India is the world's cradle: thence it is that the common mother in sending forth her children even to the utmost west, has in unfading testimony of our origin bequeathed us the legacy of her language, her laws. her *Morale*, her literature, and her religion. Traversing Persia, Arabia, Egypt, and even forcing their way to the cold and cloudy north

far from the sunny soil of their birth, in vain they may forget their point of departure, their skin may remain brown or become white from contact with snows of the west, of the civilizations founded by them splended kingdoms may fall, and leave no trace behind but some few ruins of sculptured columns, new people may rise from the ashes of the first; new cities flourish on the site of the old: but time and ruin united fail to obliterate the ever legible stamp of origin."

भारतवर्ष संसार का पंघूड़ा है । वहीं से सब की माता ने अपने बच्चों को दूर से दूर पाश्चिम भेजा है और अपना उद्भव याद दिलाने के लिए अपनी भाषा, राज नियम, आचार साहित्य और धर्म का दायभाग दिया है । वे फ़ारस, अरब और मिसर में घूम जायं, उन से भी आगे अपनी सूर्य्य सुखदा मातृ भूमि से दूर सर्द और धुंधले उत्तर में पहुंच जायं वे अपने निकास को भुलाने का व्यर्थ यत्न करें या उनकी चमड़ियां गंदमी रहें या बर्फ़ के संबन्ध से सफ़ेद हो जायं, उन द्वारा स्थापित की हुई सभ्यताओं में से बड़े २ राज्यों का नाश हो जाय और पीछे थोड़े से टूटे फूटे विचित्र खंभों के अतिरिक्त और कुछ शेष न छोड़ जायं, पुरानी नगरियों के खण्डरात पर नई नगरियां बस जायं, किन्तु समय और नाश मिल कर भी उन पर से उत्पत्ति स्थान के स्पष्ट ठप्पे को नहीं मिटा सकते ।

"The legislator manou, whose authenticity is incontestible, dates back more than three thousand years before the Christian era; the Brahmans assign him a still more ancient epoch. What instruction for us, and what testimony almost material, in favour of the oriental chronology, which, less ridiculous than ours (based on Biblical traditions) adopts, for the formation of this world. an epoch more in harmony with science."

शासक मनु, जिसका प्रमाण अकाट्य है, का समय ईसाई संवत् से ३ हज़ार वर्ष पहले का है; ब्राह्मण उसका इससे भी पुराना समय बतलाते हैं। हमारे लिए कैसी शिक्षा है, और पूर्वीय काल परिचय की प्रणाली के पक्ष में क्या ही पुष्ट प्रमाण है (जो हमारी बाइबिल पर आश्रित काल परिचय प्रणाली की अपेक्षा कम उपहास्य-जनक है) और सृष्टि रचना के लिए हमारी अपेक्षा बहुत अधिक वैज्ञानिक युग स्वीकार करती है।

The Sowrya Sidanta would retrodate many milllons of years, and on this snbject Halhed the translator of the Shastras, makes the remark, that no people possess annals of an authority so incontestible as those transmitted to us by the ancient Brahmans; and in support of his assertion, mentions a book written more than four thonsands years ago which gives a retrospective history of the human raec of many millions of years.

This choronology has nothing of exaggeration for Hindoos; on the contrary it logically arccods with their belief; which admit the existence of matter from all eternity with God.

सूर्य सिद्धान्त लाखों साल पीछे जाता है और इस विषय पर शास्त्रों का अनुवादक हालहड कहता है कि किसी भी जाति के पास इतने अधिक प्रामाणिक ऐतिहासिक वृत्त नहीं हैं, जितने कि पुराने ब्राह्मणों द्वारा हम तक पहुंचाये हुए हैं। और इस स्थापना की पुष्टि में वह एक चार हज़ार से अधिक वर्ष पहले लिखी हुई पुस्तक का प्रमाण देता है, जिसमें मनुष्य जाति का लाखों साल पुराना इतिहास दिया हुआ है। यह काल की दीर्घता हिंदुओं को अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती प्रत्युत उनके विश्वासों के साथ सर्वथा मिलती है, क्योंकि वे परमात्मा के साथ प्रकृति को भी नित्य ही मानते हैं।

"we shall presently, see Egypt, Judea, Greece, Rome, all antiquity, infact, copies Brahmincial society in its castes, its theories, its religious opinion, and adopts its Brahmins, its priests, its levites as they had already adopted the language. legislation and philosophy of the ancient Vedic Society whence their ancestors had departed through the world to dessiminate the grand ideas of primitive revelation."

"हम देखेंगे कि मिश्र, जूडिया, यूनान, रोम–सर्व प्राचीन देश–अपने जाति भेद, अपनी कल्पनाओं, अपने धार्मिक वि-

चारों में ब्राह्मण समाज का ही अनुकरण करते हैं और इसके ब्राह्मणों, इसके पुरोहितों, इसके याज्ञिकों को स्वीकार करते हैं, जिस प्रकार कि पहले से ही उस प्राचीन वैदिक समाज की भाषा, धर्मशास्त्र और दर्शन शास्त्र को अंगीकार किया था जिस (वैदिक समाज) से उन के पुरुषा सारे भूगोल में प्रारम्भक ईश्वरीयज्ञान के उच्च विचारों को फैलाने के लिए निकले थे" जिस समय अभी बालक दयानन्द शायद अक्षराभ्यास ही करने लगा था उस समय फ्रांस का तत्त्ववेत्ता दिव्य दृष्टि से दर्शन करके साक्षी देता है कि सारा ज्ञान भूमण्डल में ब्राह्मण धर्म अर्थात् वेद से फैला और जिस समय उस ज्ञान का विस्तार हुआ उसे भी इसी पुण्य भूमि के ब्राह्मणों ने ही प्रसरण किया।

धर्म वा मत

अपना मत सब मनुष्यों के लिए **वेद** बतलाते हुए, ऋषि दयानन्द ने, मत शब्द का प्रयोग उसके साधारण यौगिक अर्थ (**मन्तव्य**) में किया है; जो मनुष्य मात्र का मन्तव्य है वही उनका धर्म भी है। परन्तु मत शब्द योगरूढ़ी अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। और उस समय उस के अर्थ **सम्प्रदाय** के होते हैं। ऐसा ऋषि दयानन्द मानते थे, जो नीचे के उद्धरण से सिद्ध होता है—"(प्रश्न) आप सब का खण्डन ही करते आते हो परन्तु आपने अपने धर्म (यहां मतवादी ने धर्म शब्द का प्रयोग मत के अर्थों में किया है) में सब अच्छे हैं, खन्डन किसी का न करना चाहिये ....[उत्तर] धर्म सब का एक होता है वा अनेक ?

जो कहो अनेक होते हैं तो एक दूसरे से विरुद्ध होते हैं वा अ-विरुद्ध ? जो कहो कि अविरुद्ध हैं तो पृथक् पृथक् होना व्यर्थ है, इस लिये धर्म और अधर्म एक ही है।" (समुल्लास ११ पृ० ४०९) फिर जिज्ञासु द्वारा सर्व सम्प्रदायों की पड़ताल करा के पृ० ४११ पर लिखा है "फिर आगे चला तो सब मतवालों ने अपने को सच्चा कहा.................उनके परस्पर एक दूसरे का विरोध देख विशेष निश्चय किया कि इन में कोई गुरु करने योग्य नहीं क्योंकि एक एक की झूठ में नौ सौ निन्न्यानवे गवाह हो गए ....ऐसा जान...... .....उस सत्य के विज्ञानार्थ वह........... हाथ जोड़, अरिक्त-हस्त होकर वेदवित्, ब्रह्मनिष्ठ, परमात्मा को जानने हारे, गुरु के पास जावे.........जब वह ऐसे पुरुष के पास जाकर बोला कि महाराज ! अब इन संम्प्रदायों के बखेड़े से मेरा चित्त भ्रान्त हो गया है क्योंकि जों मैं इन में से एक का चेला हो जाऊंगा तो नौसौ निन्न्यानवे से विरोधी होना पड़ेगा.........इस लिये आप मुझको उपदेश कीजिए जिस को मैं ग्रहण करूं। [आप्त विद्वान्] ये सब मत अविद्या जन्य विद्या विरोधी हैं।... ......देख ! जिस बात में ये सहस्र एक मत हों वह **वेद मत** ग्राह्य है और जिस में परस्पर विरोध हो वह कल्पित झूठा, अधर्म अग्राह्य है। (जिज्ञासु) इसकी परीक्षा कैसे हो ? [आप्त] तू जाकर इन २ बातों को पूछ, सब की एक सम्मति हो जायगी। तब वह उन सहस्रों की मंडली में खड़ा होकर बोला कि सुनो सब लोगो ! सत्यभाषण में धर्म है वा मिथ्या में ? सब एक स्वर

होकर बोले कि सत्यभाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहारादि में धर्म है वा अविद्या ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग, असत्य व्यवहार, छल, कपट, हिंसा, परहानी करने आदि कर्म्मों में ? सब ने एक मत होके कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म। तब जिज्ञासु ने सब से कहा कि तुम इसी प्रकार सब जने एक मत हो सत्य धर्म की उन्नति और मिथ्या मार्ग की हानि क्यों नहीं करते ?...........(मत वाले) एक मत कभी नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्यों के गुण, कर्म, स्वभाव भिन्न २ हैं। [जिज्ञासु] जो बाल्यावस्था में एक सी शिक्षा हो, सत्य भाषणादि धर्म का ग्रहण और मिथ्या भाषणादि अधर्म का त्याग करें तो एक मत अवश्य हो जाय। और दो मत अर्थात् धर्मात्मा अधर्मात्मा सदा रहते हैं वे तो रहें परन्तु धर्मात्मा अधिक होने और अधर्मी न्यून होने से संसार में सुख बढ़ता है और जब अधर्मी अधिक होते हैं तो दुःख। जब सब विद्वान् एकसा उपदेश करें तो एक मत होने में कुछ भी विलम्ब न हो...........आप्त के पास गया। उसने कहा कि महाराज ! तुमने मेरा उद्धार किया नहीं तो मैं भी किसी के जाल में फंस कर नष्ट भ्रष्ट हो जाता..........."

ऊपर के लम्बे उद्धरण को पढ़ने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द धर्म और मत में स्पष्ट भेद करते हुए, सर्व-

साधारण को सम्प्रदाय-रूपी मतों के जाल से छुड़ा कर एक सत्य (वैदिक) धर्म में प्रविष्ट कराना ही अपना तथा अपने स्थापन किए हुए (आर्य) समाज का मुख्य उद्देश्य समझते थे। उनकी दृष्टि में वेद ही आर्य समाज का मूलाधार था; अन्य सब नियम गौण तथा उसी (वेद) की रक्षा तथा प्रचार के लिए थे। यही तो कारण है कि आर्य समाज के दश नियमों में जहां उन्होंने "वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना, सब आर्यों का परमधर्म" बतलाया है वहां किसी अन्य पुस्तक विशेष वा व्यक्ति विशेष के पीछे चलना आवश्यक नहीं जतलाया। उन की सारी पुस्तकों को पढ़ जाइए, कहीं भी वेदों का स्थान किसी अन्य ग्रन्थ को दिया नहीं मिलता। आर्ष-ग्रन्थों के पठन पाठन पर बल देते हुए भी 'स्वमन्तव्या मन्तव्य' में लिखते हैं—"२—चारों वेदों [विद्या धर्मयुक्त ईश्वर प्रणीत संहिता मन्त्र भाग] को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूं, वे स्वयं प्रमाण रूप हैं कि जिन के प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं।"

जब वेद ही आर्यसमाज के सर्वस्व हैं और वही आर्यों की दृष्टि में सारे संसार के पथदर्शक हैं तो आर्यसमाज के अन्दर दयानन्द की क्या स्थिति है?

दयानन्द वैदिक-धर्म के आचार्य हैं

ऋषि दयानन्द वैदिक-धर्म के आचार्य थे, केवल यहीं नहीं, इस समय भी वहीं आचार्य हैं। इस समय आचार्य शब्द भारत के शिक्षक समुदाय को बहुत खटकता है। अवैदिक सम्प्रदायों के प्रवर्तकों की धींगामुश्ती को देखकर, अपने चेलों को झूठन तक खिलाते हुए अवलोकन करके शिक्षित दल की दृष्टि में आचार्य शब्द का मान सर्वथा घट गया है। परन्तु जब इस पद के शब्दार्थ पर ध्यान दें और इसके विषय में आर्ष-ग्रंथों से आन्दोलन करें तो पता लगता है कि यह पद बड़ा ही पवित्र है। संसार की स्थिति और उन्नति के लिए आचार्यों की बड़ी भारी आवश्यकता है।

मनु महाराज आचार्य का लक्षण निम्नलिखित करते हैं:—

उपनीयतुयः शिष्यं वेद मध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥२।१४०॥

"जो द्विज, शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके, कल्प और रहस्य के साथ, वेद पढ़ाता है उसे **आचार्य** कहते हैं।"

निरुक्त में लिखा है—**कस्मदाचार्यं अचारं ग्राहयत्या चिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमति वा।** आचार्य कौन है? जो ब्रह्मचारी को आचार की शिक्षा देता है, तत्त्वों का उपदेश करता है या बुद्धि को विधि पूर्वक बढ़ाता है।

परन्तु आचार क्या वस्तु है ? यह प्रश्न है । आचार की महिमा मन्वादि धर्म शास्त्रों मे बहुत की गई है । आचार और धर्म एकार्थवाची शब्द ही हैं । मनु भगवान् कहते हैं—"**आचारः परमोधर्मः**" आचार ही परम धर्म है । जो संसार को धारण कर रहा है वा जिसे धारण करना संसार का कर्त्तव्य है—वह धर्म है । अर्थात् जो धर्म है वही आचार है । पन्थाई वा साम्प्रदायक गुरु लोग भी आचार का ही उपदेश देते हैं, परन्तु उनके मत में आचार वह है जो साम्प्रदायक गुरु के मुंह से निकले । उनका तो यह सिद्धान्त है—"**गुरु विसनूगुरुगोरख बर्मा, गुरु पारवतीमाई**" इन से भिन्न वैदिक आचार्य जिस आचार का उपदेश करेगा उसके विषय में मनु का कथन है कि उसका आधार वेद और वेदानुकूल स्मृति पर है—**आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्त स्मार्तें वच** ।। तब जो गुरु शिष्य को न केवल ज्ञान काण्ड और कर्म काण्ड का शिक्षण ही करे प्रयुत शिष्य को तदानुकूल चलाता हुआ ब्रह्म के समीप पहुंचावे, वही आचार्य कहलाने का अधिकारी है ।

अब जिस प्रकार व्यक्ति विशेष ब्रह्मचारी को शिक्षा देने वाला उसका आचार्य कहलाता है और बड़े शिक्षणालय के सर्व ब्रह्मचारियों का एक आचार्य होता है, इसी प्रकार जब जब वैदिक धर्म का लोप होता है तब तब ही उसका पुनः प्रकाश करने वाले आचार्य आते हैं और अधर्म का नाश करके धर्म की पुनः स्थापना करते हैं । इसी लिए कहा है—

आम्नायतत्त्वविज्ञाना च्चराचरसमानतः
यमादि योग सिद्धत्वादाचार्य इति कथ्यते ॥
स्वयमाचरते शिष्यानाचारेस्थापयत्यपि ।
आचिनातिहि शास्त्रार्थमाचार्य्यस्तेन कथ्यते ॥

जब संसार में अविद्यान्धकार फैल जाता है, उस समय वाणी द्वारा किया उपदेश सुनने को जनता तय्यार नहीं होती। उस समय जो महानुभाव वैदिक सिद्धान्तों को समझ कर उन पर स्वयं आचरण आरम्भ करते हैं उन्हीं के पीछे चलने को शुद्ध भाव युक्त जनता तैयार होती है। इस लिए जो स्वयं वेदानुकूल आचार रखता हुआ अपने अनुयायियों को भी उसी के अनुसार चलाने की शक्ति रखता हो उसी को आचार्य कह सकते हैं। आधुनिक कोषों में भी उदाहरण के लिए केवल द्रोणाचार्य तथा श्री शंकराचार्य के ही नाम मिलते हैं। किसी आधुनिक साम्प्रदायक गुरु का नाम नहीं आता क्योंकि ये लोग आचार का वेद के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं समझते।

श्री स्वामी शंकराचार्य के पश्चात् ऋषि दयानन्द ही वैदिक धर्म के आचार्य हुए हैं। स्वमन्तव्यामन्तव्य का प्रकाश करते हुए ऋषि दयानन्द ने अपने मुख्य ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश में लिखा है--

"सर्व तन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य, सार्वजनिक धर्म जिस को सदा से सब मानते आए, मानते हैं और मानेंगे भी इसी लिए उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं........अब जो वेदादि

सत्य शास्त्र और **ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनिपर्यन्तों के मा-ने हुए** ईश्वरादि पदार्थ, जिन को कि मैं भी मानता हूं, सब स-ज्जन महाशयों **के सामने प्रकाशित करता हूं** । मेरा कल्पना वा **मतमतान्तर चलाने का लेश मात्र भी अभिप्राय नहीं है** किन्तु जो सत्य है उसको मानना वा मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है ।......यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता.........................।"

आचार्य का लक्षण यहां ऋषि दयानन्द ने स्वयम् बतला दिया है । आचार ही परम धर्म है । परन्तु—यह आचार है यह अनाचार है—इस की कसोटी क्या है ? जो धर्म वेद और वेदानुकूल स्मृतियों से अविरुद्ध है वह आचार, और जो वेद विरुद्ध अधर्म है वह अनाचार । इस व्यवस्था को संसार में पुनः स्थापन वा दृढ़ करने का साहस और प्रयत्न जो करे वही आचार्य कहलाने का अधिकारी है । आचार्य का आदेश इस लिए प्रमाणिक नहीं कि उसने अपनी बुद्धि का सिक्का भोले भाले मनुष्यों पर जमा कर उन्हें वशी-भूत कर लिया है प्रत्युत इस लिए कि पूर्व आचार्यों की न्याईं वैदिक ज्ञान की ओर ही वह निर्देश करता है और अपने चरित्र से सिद्ध करता है कि—**धर्म जिज्ञासमानानाम् प्रमाणं परमं श्रुतिः** । 'धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिए परम प्र-माण वेद ही है ।' इसी लिए ऋषिदयानंद ने अपने दूसरे मन्तव्य

में लिखा है कि जो "........महर्षियों के बनाए ग्रंथ हैं उन को परत:प्रमाण **अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इन में वेद विरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूं।**" ऋषि दयानन्द ने यहां स्पष्ट कह दिया कि उन के कथन वा लेख भी वहीं तक प्रमाणिक समझने चाहिएं जहां तक कि वे वेदों के अनुकूल हैं और जिस प्रकार ब्रह्मादि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों में जो कुछ उन्हें वेद विरुद्ध दिखाई देता है, उसका वह प्रमाण नहीं करते इसी प्रकार उनके लेखों वा कथन में जो कुछ वेद विरुद्ध प्रतीत हो उसका प्रमाण करना भी वैदिक-धर्मियों के लिए आवश्यक नहीं। तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऋषिदया-नन्द के मुख्य ग्रंथ **सत्यार्थप्रकाश** की स्थिति क्या है ?

आर्यसमाज में सत्यार्थ प्रकाश का स्थान

राज कर्मचारियों ने, ईसाई पादरियों और गुप्तचरों की रिपोटों पर, सत्यार्थ-प्रकाश को "आर्यसमाज की बाइबल" (The Bible of the Arya Samaj) की उपाधि दी है। और है भी ठीक यही। "बाइबल" के अर्थ हैं पुस्तक के, और पुस्तक बना है पुस्त् (*पोसयति-ते*) से जिस के अर्थ प्रत्येक कोष में लिखे हैं—To bind, tie (बांधना, गूंथना)—प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्म ग्रन्थ का नाम पुस्तक [बाइबल, कुरान, ग्रन्थ—एकार्थ वाची शब्द ही हैं] केवल इसी लिए नहीं कि उसे ग्रन्थित करके उस की जिल्द बांधी गई है, प्रत्युत इस

लिए भी कि साम्प्रदायिक आचार्यों के आदेश उस मत के अनुयायियों को एक दूसरे के साथ जोड़ते हैं।

सत्यार्थ-प्रकाश का आर्यसमाज में वही स्थान है जो ईसाई चर्च में इंजील [Bible] का, महम्मदी मत में कुरान का तथा ख़ालसा पंथ में ग्रन्थसाहब का। यह व्यवस्था बृटिश राज्य की ओर से भी दी जा चुकी है। जब सं० १९०८ई० में पंजाब के गुप्तचर दल ने रिपोर्ट की थी कि "जब तक सत्यार्थप्रकाश को ज़ब्त नहीं किया जाता तब तक वे अमन के ज़िमेवार न होंगे," उस समय बृटिश गवर्नमेन्ट ने पांच विचार शील उच्च पदाधिकारियों को इस विचार के लिए नियत किया था। उन महानुभावों ने सत्यार्थ-प्रकाश का भली प्रकार अनुशीलन करके व्यवस्था दी कि जब तक गवर्नमेन्ट बाइब्ल, कुरानादि का प्रचार रोकने का ज़िम्मा नहीं उठाती तब तक सत्यार्थ-प्रकाश को हाथ लगाना अन्याय होगा, क्योंकि इस ग्रन्थ का आर्यसमाज में वही पद है जो बाइब्ल का ईसाइयों में। सत्यार्थ-प्रकाश पुस्तक है, इस के ग्रन्थकर्त्ता को हम जानते हैं, वह आर्यसमाज के आचार्य थे और इस लिए अपने सम्प्रदाय के आचार संगठन के लिए उन्होंने वह ग्रन्थ रचा। अतः जो मान एक सम्प्रदाय के धर्म ग्रन्थ का होना चाहिए, उसका अधिकार सत्यार्थ-प्रकाश को भी है; परन्तु इस से बढ़ कर उसका मान करना मनुष्यों को धर्म के आदर्श से गिराना है।

बाइब्ल और कुरान के मुक़ाबिले में सत्यार्थ-प्रकाश की स्थिती कुछ ऊंची है। बाइब्ल ईसामसीह का लिखा हुआ नहीं, उस के शिष्यों ने उस के काम की समाप्ति के वर्षों बाद अपनी अपनी स्मरण शक्ति पर निर्भर करके उसके जीवन की घटनाओं और उस के उपदेशों को एकत्र किया था। यही व्यवस्था कुरान, ग्रन्थ साहब इत्यादि की है। परन्तु दयानन्द ने अपना ग्रन्थ स्वयम् लिखवाया और छपाई के समय उस के कुछ फ़ार्मों के प्रूफ़ भी देखे, इसी लिए उनके ग्रन्थ पर उस प्रकार का व्याघात दोष नहीं लग सकता जिस प्रकार अन्य मतों सम्बन्धी धर्म ग्रन्थों पर। लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि जो परस्पर विरुद्ध तथा असम्भव लेख सन्तमैथ्यू, सन्त ल्यूक, सन्त जानादि ने लिखे हैं उन के लिए मसीह ज़िम्मेवार है। शायद मसीह के सामने ये लेख निकलते तो वह स्वयम् इन का संशोधन कर देता—तात्पर्य केवल यह है कि जहां सम्भव है कि इन्जील, कुरानादि में बहुत से भाव उन सम्प्रदायों के आचार्यों के मन्तव्यों के विरुद्ध घुस गए हों वहां सत्यार्थ-प्रकाश के सम्बन्ध में ऐसी सम्भावना कम है।

क्या सत्यार्थ-प्रकाश निर्भ्रान्त ज्ञान है?

तब क्या सत्यार्थ-प्रकाश को धर्म पथ का निर्भ्रान्त मार्ग दर्शक समझें? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकर्त्ता ही ठीक देसकते हैं, हम इतर पुरुष इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं दे सकते। ईसा तो

शायद ऐसा कुरू का दावा न करता परन्तु उसके अनुयायियों ने "शब्द" ब्रह्म का ही पद प्रदान कर दिया है। परन्तु ऋषि दयानन्द ने अपने अनुयायियों को भ्रम में नहीं डाला। उन्होंने स्पष्ट माना कि धर्म का निर्णायक तो ईश्वरीय ज्ञान वेद है, वह तो केवल अपनी योग्यता और बुद्ध्यानुसार उस सच्चे प्रकाश की ओर निर्देश मात्र करने वाले हैं। ऋषि भूमिका में ही लिखते हैं—"इस ग्रन्थ में जो कहीं २ भूल चूक से अथवा शोधने तथा छपाने में भूल चूक रह जाय उस को जानने जनाने से जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका वा खंडन मंडन करेगा उस पर ध्यान न दिया जायगा। हां जो वह मनुष्य मात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उस को सत्य २ समझने पर उस का मत ग्रहीत होगा।"

कैसे सरल शब्द हैं! अपने से भूल चूक की संभावना भी स्वीकार करते हैं और शोधने छपवाने की अशुद्धियों को भी ठीक करने के लिए हर समय तैयार हैं। यह किस लिए? इस लिए कि वह सत्य वैदिक ज्ञान फैलाने आए थे न कि अपनी महिमा और यश फैलाने की स्वार्थ आकांक्षा से। मेरी अपनी सम्मति तो यह है कि ईसादि महापुरुष भी ईश्वरीय ज्ञान के प्रचार और उसी को पुजवाने के लिए ही आए थे और उनके अनुयायियों ने उन के असली उद्देश्य को न समझ कर अ

चार्यों की पूजा की स्थापना कर दी। सन्त जान की पुस्तक आरम्भ ही बतलाता है कि मसीह शब्द का प्रचार करने या था। वह शब्द क्या है?—

In the beginning was the Word, and the Word as with God, and the Word was God. The same as in the beginning with God.

"आरम्भ में शब्द था और शब्द परमेश्वर के साथ ा और शब्द ही परमेश्वर था, वही आरम्भ में परमेश्वर के साथ था।"

ईसा ने **शब्द ब्रह्म** के प्रचार के लिए ही जन्म लिया था, उस के अनुयायियों ने उसी को ब्रह्म बना डाला। ऊपर के न्जीली उद्धृत लेख को पढ़ कर सिक्खों के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह की श्रद्धा-मयी वाणी समझ में आजाती है जहां उन्हों ने यह दिखला कर कि जिन महा-पुरुषों को परमेश्वर ने संसार को ब्रह्म पूजा का मार्ग दिखाने के लिए भेजा था उन्होंने उसके स्थान में अपनी ही पूजा शुरू करादी अपने विषय में लिखा है—"मैं हूं परम पुरुष को दासा।"

परन्तु स्वामी दयानन्द ने भ्रम युक्त कोई वचन ही नहीं कहा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि सारे संसार का माननीय धर्म–पथ दर्शक वेद है, ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त आचार्य उसी का प्रचार करते रहे और इस लिए जैसे उन का

भी वेद विरुद्ध लेख प्रमाण नहीं होसकता वैसे ही मेरा भी ले
यदि वेद विरुद्ध हो तो, उसे न मानो। ऐसे स्पष्ट लेखों
कुछ अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता न थी परन्तु स्वार्थ
वश निर्बलमनुष्य बार बार सचाई को भूल जाते हैं और
लिए ज्ञान नेत्रों पर, उनके अपने, डाले हुए पर्दों के बारम्बार ह
टाने का यत्न करना पड़ता है।

सिद्धान्त की ओट में स्वार्थ सिद्धि

आर्यसमाज में जो नित्य नए बखे
खड़े हो जाते हैं उनका कार
अधिकत: स्वार्थ और अज्ञान ही है। अ
ज्ञान को दूर कर के भाइयों के पारस्परिक द्वेष को दूर भी किय
जासकता है, परन्तु स्वार्थ ऐसे यत्न के मार्ग में बड़ा भारी क
टक है। उस स्वार्थ को भी ज्ञान की किरणों द्वारा छिन्न भि
किया जासकता है परन्तु उस के मार्ग में सिद्धान्तों का ढकोसल
रुकावट पैदा करता है। सिद्धान्त बिना तो कोई भी दार्शनिक
धार्मिक सम्प्रदाय खड़ा नहीं रह सकता-उस पर मेरा कटाक्ष नहीं
आर्यसमाज में स्वार्थियों को सिद्धान्तों की उस समय सूझती
जब अपने किसी ऐसे भाई को नीचा दिखाना हो जिस के साथ
किसी कारण से उनका द्वेष होगया है। वह उपदेशक जो पौराणिक
पंडितों के इस चैलेन्ज का, कि वे सत्यार्थप्रकाश की अशुद्धियों
पर शास्त्रार्थ करेंगे, यह उत्तर देता है कि हम वैदिक हैं और वैदिक
सिद्धान्तों का मूल वेद द्वारा समर्थन करेंगे जब अपने साथ न सहमति
रखने वाले आर्य भाई से बदला लेना चाहता है तो उस में यह

छिद्र निकालता है कि उसने ऋषि दयानन्द के किसी अर्थ के अतिरिक्त एक शब्द के और अर्थ कर दिए। सत्यार्थप्रका में ऐतिहासिक तथा अन्य साधारण घटनाओं पर जो कुछ भी छप गया है, यदि उसी विषय पर आन्दोलन कर के कोई भाई अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न करे तो उसे गिरा हुआ समझा जाता है। फिर ऋषि दयानंद क्या मानते थे और उनके शब्दों का क्या अर्थ है, यह भी ऐसे भाई स्वयम् ही निर्णय करते हैं; दूसरे को उस में ननुनच करने का अधिकार नहीं देते।

केवल द्वेष वा स्वार्थ ही इस प्रकार की स्थापनाओं के कारण नहीं होते, कभी कभी धर्म में पूर्ण श्रद्धा का अभाव भी ऐसी निर्बलता का कारण होता है। सोलह वर्ष हुए जब ऋषिदयानंद के लेखों के निर्भ्रांत होने वा न होने पर "कल्चर्ड और महात्मा पार्टियों" में विवाद चल रहा था तो हमारे कल्चर्ड भाई अपने प्रतिपक्षियों पर यह दोषारोपण करते थे कि वे स्वामी दयानन्द को वेदवत् निर्भ्रान्त मानते हैं। यह दूसरी बात है कि 'महात्मा पार्टी' के सभ्य आक्षेप को अपने ऊपर अन्याय समझते थे क्योंकि उन की प्रतिज्ञा केवल यह थी कि आचार्य दयानन्द का लेख, योगी होने के कारण, उस समय तक माननीय है जब तक कि वैसा ही कोई योगी पुरुष उसे वेद विरुद्ध न सिद्ध करदे; परन्तु इस में सन्देह नहीं कि हमारे कल्चर्ड भाई ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश तथा वेद भाष्य में भूलें अवश्य मानते थे। परन्तु जब उसी

समय उनके एक नेता को शास्त्रार्थ में खड़ा होना पड़ा और पं० गोपीनाथ पौराणिक की ओर से प्रश्न हुआ कि उनके विपक्षी सत्यार्थ-प्रकाश में भूल मानते हैं वा नहीं तो उत्तर मिला—"हम सत्यार्थ-प्रकाश का **एक एक शब्द ठीक** मानते हैं।" यह अत्युक्ति हमारे भाई के मुंह से केवल झूठी लोक लज्जा ने ही कहलवाई। उन्होंने समझा कि यदि वह अपनी दार्शनिक युक्ति से काम लेंगे तो विपक्षी 'निगुरा' कह कर ही उन्हें मूर्खमंडली की दृष्टि में गिरा कर पराजित कर देगा। सारांश यह कि सत्यार्थप्रकाश के एक २ शब्द का समर्थन अविद्या वश, स्वार्थ और झूठी लोकलज्जा में फंस कर ही किया जाता है। इस लिये अत्यन्त आवश्यक है कि द्वेष, पक्षपात और लोक-लज्जा के झूठे भय को भुला कर सत्यार्थ-प्रकाश को वही पद (साम्प्रदायिक स्मृति का) प्रदान किया जावे जो उसका वास्तव में अधिकार है।

सत्यार्थ-प्रकाश की वास्तविक स्थिति

वेद के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध में कोई भी भूल नहीं, यह आर्य्यसमाज और उसके नेता आचार्य का मुख्य मन्तव्य है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इस लिए निर्भ्रान्त है। सत्यार्थप्रकाश मनुष्यकृत है और इस लिए उस में भूल की संभावना है। प्रथम तो यही निश्चित नहीं है कि सत्यार्थ-प्रकाश में वही सब छपा है जो ऋषियानन्द ने लिखवाया था। जहां छापे की अशुद्धियाँ प्रत्येक संस्करण में दिखाई देती

हैं वहां कई स्थानों में लिखे हुए, ऋषिदयानन्द के हस्ताक्षर सहित, पुस्तक में प्रत्यक्ष संशोधन करने वाले पण्डितों का हस्ताक्षेप दिखाई देता है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका और वेद भाष्य में संस्कृत भाग जहां ऋषिदयानन्द का लिखाया हुआ है वहां आर्य भाषा का अनुवाद सब भीमसेन और ज्वालादत्तादि पंडितों का है। वेदांग प्रकाश के तो सारे भाग बनाए ही पंडितों ने थे और सत्यार्थप्रकाश में भी उन्होंने बहुत हाथ पैर मारने का प्रयत्न किया था। मेरी इन प्रतिज्ञाओं का समर्थन उस पत्रव्यवहार पर दीर्घ दृष्टि डालने से होता है जो मैंने सम्वत् १९६६ में छपवाकर प्रकाशित किए थे। उस पत्रव्यवहार से यहां तक सिद्ध होता है कि ऋषिदयानन्द के शोधे हुए पत्रों में भी भीमसेनादि परिवर्तन करके कुछ का कुछ छपवा देते थे। इसे सिद्ध करने के लिए एक ही प्रमाण प्रर्याप्त होगा। व्याकरण के **स्त्रैणतद्धित** विषयक ग्रन्थ का एक लेख भीमसेन ने ऋषिदयानन्द के पास देखने को भेजा। वह पत्रव्यवहार के पृ० ५० से ५३ तक छपा है। उस को बड़े संशोधनों के पश्चात् ऋषिदयानन्द ने छपने को लौटा दिया। वह पृ० ५४ से ५६ तक दिया गया है। इस पर ऋषि दयानन्द का नोट, प्रबन्धकर्त्ता वैदिक प्रेस के नाम, बड़ा द्योतक है—"जो कोई नोट वा विज्ञापन खंडन मंडन और धर्माधर्म विषयों का ज्ञापक हो वह हम को दिखलाए बिना कभी न छापना चाहिए। वह मेरे पास भेजा सो

बहुत अच्छा किया । जो दिखलाए विना छाप देते तो हम को इस के समाधान में बहुत श्रम करना पड़ता । भीमसेन जो व्याकरणादि शास्त्रों को पढ़ा है, उतना ही उस का पाण्डित्य है । अन्यत्र वह बालक है । इस को इस बात की खबर भी नहीं है कि इस लेख से क्या २ कहां विरोध होकर क्या २ विपरीत परिणाम होंगे । इस लिए यह नोट जैसा शोध कर भेजा है वैसा ही छपवाना । " आज शोक से देखा जाता है कि ऋषि दयानंद का संशोधित नोट भी अन्य परिवर्तनों सहित छपा !

यन्त्रालय के संशोधकों की कुटिलता का एक नमूना

पुराने आर्य पुरुषों को, जिन्होंने आर्य समाज के घरेलू युद्ध के आरम्भ से ही सब घटनाओं को विचार दृष्टि से देखा है, विस्मृत नहीं हुआ होगा कि जब नवम्बर सं० १८९२ ई० के वार्षिकोत्सव पर, लाहौर में, धर्मचर्चा के समय रायबहादुर मूलराज एम. ए. ने मांस भक्षण का समर्थन करते हुए कहा था कि मांस भक्षण को ठीक समझते हुए भी वह आर्य समाज के सभासद रह सकते हैं, उस समय उन्होंने अपने चेले शंकरनाथ द्वारा पुराने सत्यार्थप्रकाश और पुरानी संस्कार-विधि का भी प्रमाण दिलवाया था और साथ ही शंकरनाथ ने यह भी दावा किया था कि श्री स्वामी दयानन्द जी ने नए सत्यार्थप्रकाश में भी मांस भक्षण का मंडन किया था, परन्तु उसे पंडितों ने कटवा दिया । उस रमणीय धर्मचर्चा की रिपोर्ट आर्यसमाज

के वृद्ध पितामह श्री लाला जीवनदास ज़ी ने छपवाई थी, जिस में से पं० शंकरनाथ की वक्तृता और उस का भक्तरैमल जी की ओर से उत्तर ज्यों के त्यों छापने से मेरा आगे आने वाला लेख समझ में आ जायगा:—

"इस के बाद पं० शंकरनाथ ने उठकर जो तक़रीर (वक्तृता) की उसका ख़ुलासा यह है [३] पिछले साल जब अजमेर में परोपकारणी सभा का जलसा हुआ था तो यह बात ज़ाहिर हुई थी कि स्वामी जी ने नए सत्यार्थप्रकाश के मसौदे में मांस खाने की इजाज़त लिखदी थी। मगर चूंकि छापने का काम कई वैष्णव लोगों के हाथ में था इस लिए वह तहरीर छापी नहीं गई।

"इस के बाद भक्त रैमलदास जी ने [जो वैदिक यन्त्रालय के मैनेजर रह चुके हैं] उठकर कहा कि पं० शंकरनाथ ने जो अजमेर का हाल बयान किया है, उसकी निसबत मैं कुछ कहना चाहता हूं, क्योंकि मैं उस मौक़े पर अजमेर में मौजूद था। भक्त साहब ने जो बाद में तक़रीर की उसका ख़ुलासा यह है—(१) **नए सात्याथ-प्रकाश के मसौदे में जो मांस विषय की तहरीर है वह मत्न (मूल) में सिर्फ़ हाशिए पर है और क़लम से काटी हुई, और न वह तहरीर स्वामी जी के अपने हाथ की है। और यजुर्वेद भाष्य के मसौदे में भी एक मौक़े पर इसी क़िस्म की कटी हुई तहरीर हाशिए**

पर दर्ज हैं; जिस से साफ़ पाया जाता है कि जिस तरह मृतक पितरों के श्राद्ध की हिदायत बाज़ खुदगर्ज़ों ने पहले सत्यार्थ-प्रकाश में दर्ज करदी या करादी थी (जिस का खन्डन स्वामी जी को एक नोटिस के जरिए करना पड़ा) इसी तरह शायद बाज़ मांसाहारी पुरुषों ने, मौका पाकर, मांस का विषय अपने मुफ़ीद मतलब नए सत्यार्थ-प्रकाश और यजुर्वेद के मसौदों में दर्ज कराकर कटवादिया होगा, ताकि इस से उन को अपने पक्ष की पुष्टि में एक प्रमाण मिल जाय; वरना क़्यास नहीं चाहता कि स्वामी जी को दोनों पुस्तकों में मांस का विषय लिखना ऐसे मौक़े पर याद आया जब कि उन के मन्त्र में जगह की गुंजाइश न रही और हाशिए पर लिखना पड़ा......"

यह विवाद मेरे सन्मुख हुआ था । उस वर्ष पहली वार चुनाव में प्रधान पद मुझे दिया गया था । तत्पश्चात् मांस विषय पर कालिज पार्टी की ओर से बहुत बल दिया जाने लगा और मुझे उनके विरोध से आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब तथा आर्य सिद्धान्तों की रक्षा के लिए बड़ा प्रयत्न करना पड़ा । इसी रक्षा का काम करते हुए शायद सं० १८९८ ई० के अगस्त मास में पहली वार मैं अजमेर पहुंचा था । लाला वज़ीरचन्द तथा मास्टर आत्माराम मेरे साथ थे । बाबू राम-विलास जी से सात्यार्थप्रकाश की असली हस्तलिखित पुस्तक

(Manuscript) देखी । वह हस्तलिखित पुस्तक ऋषि दयानन्द की हस्तलिखित न थी । लेख अन्यों का था, परन्तु कहीं कहीं संशोधन ऋषि दयानंद के हाथ का किया हुआ था और प्रत्येक पृष्ठ की समाप्ति पर हस्ताक्षर ऋषि के थे, किंतु इस के साथ ही बहुत स्थानों में पं० भीमसेन के हाथों से संशोधन हुआ था । मैंने दशम समुल्लास खोलकर मांस का विषय निकाला तो हस्तलिखित पुस्तक के पृ० १८३ के हाशिए पर कुछ लिख कर काटा दिखाई दिया । मैंने उस के सम्बन्ध में सारी इबारत अक्षरशः बारीक कागज़ ऊपर रख कर नक़ल करली थी और उस का वर्णन आगे करता हूं । आवश्यक तो यह था कि उस लेख का ज्यों का त्यों फ़ोटो सर्वसाधारण के सामने रक्खा जाता । परंतु मेरी आर्थिक अवस्था ऐसा करने की आज्ञा नहीं देती, इस लिए जो कुछ वहां, जिस क्रम से, दिया हुआ है वह यहां दर्ज करता हूं । एक पंक्ति में जितना लेख वहां है उतना ही यहां भी देकर जो साधारण संशोधन है वह ब्रेकेट्स Brackets में देदूंगा:—

"सत्यार्थप्रकाश समु० १०

चाहें (खाय चाहें) कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिलादेवें (वा जला देवें) अथवा कोई मांसाहरी खावे ।

तो भी संसार की कुछ हानि नहीं (होती")

इतने लेख में भी कुछ विचारणीय बातें हैं जिनकी ओर

दृष्टि डालने से ही पण्डितों की कुटिलता का पता लगेगा। **खाय चाहें** ये शब्द ब्रैकेट में कटे हुए हैं। किस ने कटवाए यह आगे चल कर पता लगेगा क्योंकि मुन्शी समर्थदान के पत्र से ज्ञात होगा कि जब पहले प्रबन्धकर्त्ता समर्थदान को ऋषि दयान्द ने हस्तलिखित पुस्तक दी थी तो खाने की आज्ञा युक्त लेख न था। ज्ञात होता है कि यह तथा हाशिए का लेख ऋषि की आज्ञा मंगाकर मनीषी समर्थदान ने ही काट दिया था। जितना लेख मैं दे चुका हूं उस के पश्चात् नीचे दिया लेख है जिन की संगति ऊपर के लेख के साथ साथ ठीक हो जाती है—"**किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक होसकता है**" इस लेख के आरम्भ में ही किन्तु शब्द से पहले इस प्रकार का चिन्ह है (^) और हाशिए पर नीचे दिया लेख कई परिवर्तनों के साथ, पं० ज्वालादत्त के हाथ का इस प्रकार है—

"प्रश्न-सब मांस भक्ष्य वा अभक्ष्य है (उत्तर) अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः। जो ग्राम में कुक्कुट और सूवर तथा मांसाहारी सब पशुपक्षी तिर्यक जो पेट से चलते हैं अशुद्धाहारी मत्स्यादि हैं वे सब अभक्ष्य और इन से भिन्न शुद्धाहार जांगल सब भक्ष्य हैं परन्तु यह बात राजवर्गी मनुष्यों के लिए है अन्य के लिए नहीं (प्रश्न) ग्राम के कुक्कट आदि अभक्ष्य और

वनस्थ भक्ष्य हैं इस में क्या युक्ति है ? उत्तर। ग्रामस्थ कुक्कुट आदि उपकारक अशुद्धाहारी अभक्ष्य और जंगल वासी हानिकारक शुद्धाहारी भक्ष्य हैं।"

निर्पक्षपाठक स्वयम् देखें कि इस लेख के साथ ऋषिदयानंद की दी अगली इबारत का क्या सम्बन्ध हो सकता है; और इस हाशिए की इबारत की भाषा तथा युक्ति ऐसी पोच है कि उस का ऋषिदयानन्द के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता।

उस समय मुझे, और अन्य भाइयों को भी, यही सन्देह रहा कि शायद मनीषी समर्थदान जी ने रायमूलराज के कावू आकर यह लेख लिख कर काट दिया है। मेरा विचार भी उस समय भक्त रैमल जी के साथ मिलता था और इस लिए म० समर्थ-दान के लेखों के साथ उपरोक्त लेख को मिलाया भी गया। परंतु वह लेख मनीषी के लेख से भिन्न प्रतीत हुआ और मेरे लिए यह लेख पहेली ही रहा। यह पहेली उस समय बूझी गई जब मैं वैदिक यन्त्रालय का अध्यक्ष बनाया गया और ऋषिदयानन्द का पत्रव्यवहार ठीक करते हुए मुझे निम्न लिखित पत्र मिला:—

वैदिक यन्त्रालय
१३ । ७ । ८२ प्रयाग

श्री स्वामी जी की सेवा में

श्री० महाराज नमस्ते

निवेदन यह है कि वेदभाष्य में जो मांसभक्षण का विधान आया था उस को तो आपने निकाल दिया था और मुझ को

भी आज्ञा दी थी कि मांस का विधान न आवे इस प्रकार से छाप दो सो मैंने छाप दिया था। अब सत्यार्थप्रकाश के भक्षाभक्ष का प्रकरण—पाया इस में भी आपने मांसखाने की आज्ञा स्पष्ट दी है।

प्रथम जब पुस्तक लिखा गया था तब तो मांस की आज्ञा नहीं दी, पीछे से शोधते समय आपने दी है ऊपर से आपने बनाया है इस से मेरी शक्ति नहीं कि मैं इस को काट दूं इस लिए आप से निवेदन किया। अब जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा किया जाय। आपने ऐसी आज्ञा दी है कि जिन पशुओं को क्षत्रिय लोग खेतों की रक्षा के लिए मारें वा अन्य ऐसे कारण मारें तो उनका मांस खावो तो कुछ दोष नहीं है। परन्तु यह जड़ ऐसी है कि जिस के कारण से लोग अच्छी प्रकार मांसाहारी हो जायेंगे। क्योंकि बुरे काम के लिए थोड़ासा भी सहारा मिल जाय तो मनुष्य स्वार्थ वश हो कर बढ़ा लेता है। जो किसी प्रकार से मांस की आज्ञा मिल गई तो लोग अनेक मार्ग निकाल लेंगे। इस लिए आप जो बात ग्रन्थ में छपवाना चाहें सो कृपा कर के प्रथम विचार कर लिया करें तो उपकार विशेष हो। इस विषय में जैसी आपकी आज्ञा हो लिखें।

थोड़े २ काल में विचार का बदलना हानि कारक होता है। उपद्रवी पशुओं का मारना तो ठीक है परन्तु इनका मांस

खाना सदैव के लिए प्रवृत्ति करता है फिर तो निरुपद्रवी भी बेचारे मारे जायंगे। जैसी कि आज कल की गति देखने में आती है। बुराई का मूल थोड़ासा ही होता है परन्तु पीछे तो वटवृक्षवत् बड़ा विस्तार करलेती है।

बुरे कामों का वारम्वार निषेध करने पर भी लोग कर लेते हैं और अच्छे को सहस्र बार भी उपदेश करने से भी नहीं करते मांसाहार में यदि दोष है तो उस का विधान किञ्चिन्मात्र भी नहीं होना चाहिए। जो किया जायगा तो इस की प्रथा विशेष होगी। मांस के साथ मदिरा भी लगी है जो दोनों की प्रवृत्ति हुई तो सब उन्नति गिर जायगी और विपरीत फल उत्पन्न होगा। फिर जैसा आप उचित समझें वैसा करें। सत्यार्थप्रकाश का एक फ़ार्म तो और छपेगा पीछे से आपका पत्र आवेगा तब छपेगा कृपा करके पत्र शीघ्र दीजिए।

यह पत्र मैंने कार्यालय से पृथक् लिखा है। इस में नम्बर नहीं डाला है क्योंकि कार्यालय के पत्रों की नक़ल रामचन्द्र करते हैं और ये हम लोगों के विचार से सर्वथा पृथक है। किन्तु विरुद्ध कहिये। इस पत्र का विषय ऐसा खानगी है कि विरोधियों को प्रगट होने से बड़ी हानि होती है।

आर्यों के आचार्य का यंत्रालय, आर्यों ही के द्रव्य ही से बना और नौकर सब अनार्य रखे जांय यह भी एक काल की विचित्र गति का परिचय है। आर्यों के पैसे और सम्पत्ति का दर्द अनार्यों

को कहां तक होता है इसको भी विचार शील सोच सकते हैं। कृपा करके सत्यार्थप्रकाश के विषय में तत्काल आज्ञा दीजिये।

आपका आज्ञाकारी
समर्थदान मैनेजर

मशी समर्थ दान का ऊपर दिया पत्र पढ़ कर मैंने ऋषि के पत्रव्यवहार की तिथि क्रम से पड़ताल की। तब मांस वाला हाशिए का लेख निसन्देह पं० ज्वालादत्त का लिखा हुआ प्रतीत हुआ। पं० ज्वालदत्त के कई पत्र मिले जिन के साथ हाशिये के अक्षर मिल गए। इसी लिए 'ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार' छापते हुए मैंने उस पुस्तक की भूमिका के पृ० ४२, ४३ पर लिखा था:—

"पण्डित ज्वालादत्त के पत्रों से केवल यही विदित नहीं होता है कि ऋषि दयानन्द के नाम से जो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं उन में बहुत कुछ हाथ अन्य पंडितों का था, जिस के कारण उन ग्रन्थों में अनेक अशुद्धियां रह गई हैं; बल्कि यह पता लगता है कि इन लोगों के परस्पर के राग द्वेष तथा अन्तरीय कुटिल भावों के कारण भी उस महान् आत्मा के उद्देश्य को बहुत कुछ हानि पहुंचती रही है। पं० ज्वालादत्त ने योग्यता कहां से सम्पादन की उसका पता ४१९ पृष्ठ से लगता है:—"अब मामा जी ने लिखा है कि तुम्हारा महाभाष्य हम भेज देंगे। ग़लती जो आपने निकाली मैं स्वीकार करता हूं, यह मेरा दोष है..........." मुन्शी समर्थदान से इन की बनती ही न थी और दिन रात जले भुने हुए रहते थे।

इस असन्तोष के कारण इन्होंने और क्या अनर्थ करना चाहा था उस का वर्णन तब करूंगा जब मुझे शेष पत्रव्यवहार छापने का अवसर मिलेगा। इन लोगों की लीला का कुछ परिचय रायबहादुर पं० सुन्दरलाल के पत्र से मिलता है जो पृ० ४२३ से ४२६ तक छपा है।" नीचे कुछ उद्धरण देता हूं जिस से पं० ज्वालादत्त और पं० भीमसेन की लीला का पता लगेगाः—

(क) "यह न लिखना चाहिये कि अमुक मनुष्य कम चोर है वा हरामखोरी करता है क्योंकि ऐसे अपशब्द सुनने से उसकी प्रीति आप से हट जाती है" (पृ० ६१) और पं० भीमसेन भी कहते हैं कि "हमारे पास काम बहुत बढ़ गया है सो यदि आप की आज्ञा हो तो ज्वालादत्त को फिर बुलालें, १९) महीना लेगा, पर उस को आप की आज्ञा बिना बुला नहीं सकते" (पृ० ६९) पं० ज्वालादत्त अपनी करतूतों के कारण पहले निकाले गये थे, जब फिर पं० सुन्दरलाल की सिफ़ारिश पर बुलाये गये तो वह करतूत की जिस का वर्णन मनीषी समर्थ दान के पत्र में आया है। इस की पुष्टि में पं० सुनदरलाल की १ जून १८८२ ई० वाली चिट्ठि से होती है जहां लिखा है— "दूसरे पं० की अति आवश्यकता है ज्वालादत्त को मैंने लिखा था सो आने को राजी तो है पर तनखाह के वास्ते पैर फैलाता है न मालूम अपनी ही इच्छा से वा भीमसेन के इशारे से—पं० ज्वालादत्त का कार्ड आपके पास भेजता हूं जैसी इच्छा होय आप लिख

भेजें । जो मासिक ज्वालादत्त को देंगे वही भीमसेन को भी देना पड़ेगा ।"

ऊपर के लम्बे उद्धरण नीरस से तो अवश्य प्रतीत होते हैं, परन्तु इन के विना यह ज्ञात होना कठिन था कि ऋषि दयानंद के ग्रन्थों को विगाड़ने का पौराणिक संस्कृतज्ञों ने कितना यत्न किया। यदि ऋषि दयानंद के छपे ग्रथों का हस्तलिखित मूल पत्रों से मिलान किया जाय तो न जाने उन में कितना भेद निकलेगा।

ऊपर लिखा तो एक कारण है जिस से सत्यार्थ-प्रकाश के एक २ अक्षर की ज़िम्मेवारी आर्य्य पुरुष नहीं ले सकते। परन्तु छापेकी अशुद्धियों, लेखक तथा संशोधक पंडितों की अयोग्यता और कुटिलता के अतिरिक्त एक बात और भी है। वेद मंत्रों पर तो ऋषि दयानंद ने ध्यानावस्थित हो, योग समाधि में प्रवेश कर के विचार किया; इस लिए जिन मंत्रों पर ऐसा विचार हुआ उनका तात्पर्य भी बड़ी स्पष्ट रिति से प्रकाशित हुआ, परंतु जिन मंत्रों के अर्थ ऋषि की भाष्यशैली को देखकर ज्वालादत्त, भीमसेनादि प्रभृत्तियों ने किया उनमें बहुत सी त्रुटियां रहनी स्वाभाविक ही थीं।

ऋषि के वेद-भाष्य का स्थान।

वेदांग प्रकाश में जो अशुद्धियां दीखती हैं वे पंडितों की हैं; सत्यार्थप्रकाश में भी अशुद्धियों की संभावना है। ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका का संस्कृत भाग प्रायः अशुद्धियों से मुक्त है परंतु आर्य्यभाषा अनुवाद में पंडितों की अयोग्यता का फ़िर परिचय मिलता है। तब वेद-भाष्य की दशा उन ग्रन्थों से भी अधिक

शोचनीय होगी। भूमिका तो ऋषि के जीवन में ही छप चुकी थी, सत्यार्थप्रकाश के प्रमथ दश समुल्लास भी उन के सामने छप गए थे, परन्तु वेद-भाष्य का बड़ा भाग उन की मृत्यु के चिरकाल पीछे तक छपता रहा। उसमें भी केवल संस्कृत भाग ऋषि दयानन्द का लिखवाया हुआ है। उसमें कई स्थानों पर पंडितों ने गड़ बड़ की और भाषार्थ में इतना साहस करने लगे थे कि यदि धर्मवीर पण्डित लेखराम उन की कुटिलता का प्रकाश न करते तो ऋषि दयानन्द के स्पष्ट मन्तव्यों के विरुद्ध बहुत कुछ छप जाता। सारांश तथा तात्पर्य मेरे सारे लेख का यह है कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ, उन के वेद-भाष्य सहित, वेदार्थ की कुंजी हैं, वैदिकधर्म के मर्म को प्रकाशित करने वाले हैं, संसार से अविद्यान्धकार को दूर करने में सहायक हैं, परंतु फिर भी न ही हमारे लिये **परम प्रमाण** हैं और नहीं **वेद** हैं। **वेद** ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त सब ऋषि मुनि **अखिल धर्म का मूल मानते आए ह**। ऋषि के ग्रन्थ हमें इस लिए प्रिय हैं कि वे वेदार्थ के दर्शक हैं, परन्पु परम प्रमाण फिर भी वेद ही रहेगा। और ये सब ग्रन्थ वहां तक ही प्रमाणिक समझे जायंगे जहां तक कि वेदाज्ञा के अनुकूल उपदेश देते हैं।

आचार्य फिर भी ऋषि दयानन्द ही रहेंगे।

तब प्रश्न होगा कि दयानन्द का आचार्यत्व कैसे स्थिर रहेगा? संदेह हो सक्ता है कि विना आचार्य के कोई संप्रदाय स्थिर नहीं रह सक्ता और इस लिए आर्यसमाज को भी स्थिरता न होगी। इस प्रकार की शंकाएं अविवेकी हृदयों के

अन्दर उठती हैं। एक बड़ा लम्बा पुरुष आंख उठा कर चारों ओर देखता है और प्राकृतिक विचित्र घटनाओं का वर्णन इर्दगिर्द खड़े बौने पुरुषों के लिए करता है। उन बौनों में से कुछ उस को सेवा से प्रसन्न कर लेते हैं और वह उन्हें अपने कन्धे पर उठा कर उन विचित्र दृश्यों के दर्शन कराता है। यदि कन्धे पर चढ़े बौनों के हृदय शुद्ध हैं तो वे लम्बे, बड़े पुरुष से भी कुछ आगे देख लेते हैं। परन्तु ऐसा होने से क्या उस बड़े पुरुष का गुरुत्व नष्ट हो जाता है? बड़ा महानुभाव बड़ा ही रहेगा। बौना नीचे उतर कर फिर बेबस हो जायगा। महानुभाव की फिर भी ऊंची ही दृष्टि रहेगी। यदि दयानन्द से शिक्षा पाये, उसकी भाष्य प्रणाली के नियमों से दीक्षा लेकर कोई शुद्ध हृदय आर्य वेदार्थ में कुछ आगे चल सकता है तो उसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह दयानंद से बड़ा हो गया, वा दयानन्द का गुरुत्व घटगया। दयानन्द के ऊंचे विशाल कन्धे पर चढ़, कइयों ने अविद्या ग्रस्त हो कर यह समझ लिया था कि जिस ऊंचाई से वे वेद-तत्त्व का दर्शन कर रहे हैं वह उन्हें विना सहायता के प्राप्त हुई है। इसी लिए जब उन्होंने स्वतन्त्र उड़ारी लगानी आरम्भ की तो धम से पृथ्वी पर आगिरे और फिर पुराने अन्धकार में व्याकुल हाथ पैर मारने लगे। दयानन्द हमें जंजीरों में बंधवाने नहीं आया था, वह हमें मानसिक दासत्व से छुड़ाने आया था। निर्बल हृदय अविश्वासी पुरुष डरते हैं कि यदि किसी वेद मन्त्र का भाष्य किसी आर्य पुरुष द्वारा अधिक उत्तमता से प्रकाशित हो गया तो दयानन्द की गौरव हानि हो जायगी और आचार्य बिना संप्रदाय की इतिश्री हो जायगी, परन्तु वे भूल जाते हैं कि दयानन्द ने जन्म ही संप्रदायों की समाप्ति करने के लिये लिया था। आर्यसमाज को दयानन्द ने संप्रदाय नहीं बनाया था, आचार्य पद के

लिए दयानन्द ने अपने आपको संसार के सामने पेश नहीं किया था; संसार के प्यासे आत्माओं ने आत्मिक शीतल अमृत पान करने के लिए स्वयम् उसे अपना आचार्य स्वीकार किया था। तब वे मनुष्य दयानन्द के अनुयायी होने का दावा कैसे कर सकते हैं जो उसके आदेश और उपदेश के विरुद्ध आचरण करते हैं!

क्या आर्यसमाज सच-मुच एक नया सम्प्रदाय है? आर्य्यसमाज की आधार शिला क्या सम्वत् १९३२ वि० को मुम्बई में ही रक्खी गई थी? **आर्य्य** और **समाज** दोनों शब्द प्राचीन हैं, फिर उसका सम्बन्ध कैसे नया हो सकता है? आर्य्यसमाज सृष्टि की आदि से ही संस्थापित है। आर्य्यसमाज कोई सम्प्रदाय नहीं। परमेश्वर की परमपावनी वाणी वेद और उसके पवित्र उपदेशों की रक्षा के लिए समय समय पर आचार्य होते हैं और धर्म्म को सम्प्रदायों की संकुचित परिधि से पुनः स्वतन्त्र कराजाते हैं। आर्यसमाज युग युग और शताब्दि २ में स्थापित होते रहेंगे और समयानुकूल धर्म्म की रक्षा करके फिर आगे आने वाले समाज के लिए अपना आदेश छोड़ जायंगें। तब व्यक्तियों के समूहों की ओर दृष्टि डालना और उन्हीं में लिप्त रहना ऋषि-सिद्धान्त के विरुद्ध है।

ऋषि का जीवन हमें क्या उपदेश देता है? वेद के पवित्र प्रकाश पर मोहित हुआ दयानन्द व्यक्तियों, सम्प्रदायों और मनुष्य समाजों की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखता। मुनिवर गुरुदत्त ने ठीक कहा था कि वेद के प्रकाश पर मस्त दयानन्द संसार की कृत्रिम छवि की ओर आंख उठाकर देखता भी न था? दयानन्द का गौरव इस में नहीं हैं कि हम वेद को उस पर न्यौछावर कर दें। जिसे दयानन्द का शिष्य कहलाना है उस के लिए न केवल

वेद के अतिरिक्त और सब पढ़ा लिखा भुलाने की ही (पं० गुरुदत्त के शब्दों में) आवश्यकता है प्रत्युत दयानन्द के दीर्घ-स्कन्ध पर चढ़कर अपने आप को, तथा दयानन्द को भी भुलाने की आवश्यकता है। हां, आचार्य दयानन्द के मिशन की पूर्ति के लिए, स्वयम् आचार्य्य के व्यक्तित्व को भी भूल जाने की आवश्यकता है, जिस से वेद सूर्य्य के प्रकाश पर किसी प्रकार की भी छाया न पड़े।

वेद ही संसार का सर्वस्व है

भातरवर्ष का, संसार का सर्वस्व वेद ही है। जिस Logos (शब्द-ब्रह्म) की ढूंढ़ में ईसाई मत के आचार्य निमग्न रहे, जिस 'ख़ुदा के ज़ाती नाम' (परमेश्वर के निज नाम) 'इस्मे-आज़िम' की चाह में महम्मदी दवेंशों ने संसार से मुंह मोड़ा, उस की व्याख्या यदि मिलती है तो वेद में। प्राचीन ऋषि अंत में अल्हाद-पूर्वक नाद करते हैं–'**सर्वेवेदापत्पदमामनन्ति** ......', उस अनहद नाद को स्पष्ट करने वाला, अन्धकारमय जगत् में, एक ही पथ दर्शक, **वेद** को इसी लिए ऋषि दयानन्द ने आत्मिक सूर्य्य बतला कर संसार को उस से प्रकाश लेने का आदेश दिया, और उसी का पठन (श्रवण) मनन और निधिध्यासन संसार भर के श्रेष्ठ पुरुषों का **परम धर्म्म बतलाया**।

क्यों वेद का इतना गौरव रहा है और क्यों अब तक २२ कोटि आर्य-संतान उसी की शरण में शान्ति लाभ की आशा रखते हैं–इस का निर्णय दूसरी लेख-माला में होगा, जिस का शीर्षक रक्खा गया है—

वैदिक-धर्म्म और उस के मूल सिद्धान्त।

कोटि आर्य-संतान उसी की शरण में शान्ति लाभ की आशा रखते हैं—इस का निर्णय दूसरी लेख-माला में होगा, जिस का शीर्षक रक्खा गया है—

वैदिक-धर्म्म और उस के मूल सिद्धान्त।

सद्धर्म्म-प्रचारक ।

आर्य्य-भाषा का बहुत पुराना साप्ताहिक पत्र, जो २८ वर्षों से सहस्रों तक सच्चे धर्म का संदेश पहुंचाता रहा है। वार्षिक मूल्य ३)। आर्य-भाषा (हिन्दी) के पत्रों में इसका स्थान बहुत ऊंचा है। पक्षपातरहित होकर धार्मिक, सामाजिक तथा शास्त्रीय विषयों पर विचार करना इसका उद्देश्य रहा है। शुद्ध धार्मिक राजनीति का मार्ग यह सदा आर्य पुरुषों को दिखलाता रहा है।

यदि मातृ-भाषा की उन्नति करना चाहते हो तो इस साप्ताहिक पत्र के अवश्य ग्राहक बनो।

प्रबन्धकर्त्ता, सद्धर्म्म-प्र...

गुरुकुल भूमि, ...

शामपुर–काङ्गड़ी, ...

ज़िला ...